THE ECONOMIC TIMES

*Date: 28-04-18*

# Don't Fight With The Collegium

**ET Editorials**

The government's decision to reject the collegium's recommendation to elevate Chief Justice of the Uttarakhand High Court Justice KM Joseph to the Supreme Court has reignited the debate on the independence of the judiciary. For a robust democracy, an independent judiciary is non-negotiable. As is transparency for such an institution. GoI is well within its right to reject the collegium's recommendations. In this instance, it has cited 'seniority' and 'diversity'. These reasons are not good enough for the collegium to relent. As the system of appointing judges stands, if the collegium does reiterate its decision, then the government should accept it, instead of jeopardising the system in place.

Transparency in the matter of selection and non-selection of some of the judges may have been in short supply. Which is why it isn't surprising that the government's critics are shouting 'political vendetta'—allegedly retribution for Joseph's decision to quash the imposition of President's Rule in Congress-ruled Uttarakhand in 2016. To quash this line of thinking, and what GoI can shrug off as conspiracy theories but others may not, it needs to stop going into a head-on collision with its partners in the process, the collegium.

A quick resolution is then in the offing. A more transparent and accountable system of appointing judges is probably needed to avoid a situation where charges of 'old boys' network' versus 'political appointments' keep popping up. But perhaps more importantly, a more amicable way of dealing with each other – even if there was disagreement in the choice of judges made or 'stalled' – must be maintained.

The government could have avoided this fracas if it had presented its position with better form. It would control the damage done once it accepts the collegium's decision. This won't impose on the independence of the judiciary, even as it provides for the vetting and accountability of the collegium system to remain intact. Which is, and should be, of paramount interest to all parties.

---

*Date: 28-04-18*

# Social Security, That We Can Afford

**ET Editorials**

The Prime Minister's Office has reportedly cleared the labour ministry's proposal to launch a universal social security cover for 500 million workers, which includes farmers. The intent is laudable, given that most of our workforce is in the unorganised sector without any right to use institutional social

security.But implementation costs and fiscal capacity to absorb the scheme must be weighed in. Estimates suggest that GoI will require about Rs 2 lakh crore when the scheme is fully rolled out for the lower 40% of the country's workforce.

The remaining 60% is expected to make contributions out of their own pocket, either fully or partially. But any sharp cutback in public investment for this purpose will depress growth at a time when the private sector's animal spirits are still dormant. The investment rate, stuck at about 28.5% in current prices, should rise to spur growth. The need is also for fiscal discipline to make growth sustainable.

Any widening of the fiscal deficit will fuel inflation and slow down growth. The social security scheme must be funded by axing inefficient subsidies—such as subsidised urea and free power to farmers offered by many states. Maximising investment, and not consumption out of public finances, will help lower the fiscal deficit. The implementation of the goods and services tax (GST)—that will lead to an increase in the taxpayer base and boost collections—offers hope.Public finances will improve as large swathes of the informal sector come under GST, providing fiscal space to meet welfare commitments. Reforms in direct taxes should complement this effort.

Many developed countries extend coverage to the unorganised sector under separate funds, or bring them gradually under the general system. In some countries, non-covered workers become eligible for the right to an eventual pension if they make voluntary contributions at a specified level.With greater formalisation of the Indian economy, workers should contribute to the National Pension System (NPS). Employers' contribution, too, would go to the NPS, which provides a regulated institutional framework for pension funds to manage retirement savings and generate superior returns. This will lower the burden on the exchequer.

---

दैनिक भास्कर

***Date: 28-04-18***

# दुष्कर्म के खिलाफ कड़े कानून ही काफी नहीं

## न्याय और शिक्षा व्यवस्था में बुनियादी सुधार के साथ इंटरनेट, फिल्मों व विज्ञापनों में अश्लीलता रोकनी होगी।

**वेदप्रताप वैदिक , (भारतीय विदेष नीति परिषद के अध्यक्ष)**

पहले जम्मू-कश्मीर के दो भाजपा मंत्रियों के इस्तीफे, फिर उत्तर प्रदेश के भाजपा विधायक की गिरफ्तारी और अब आसाराम को मिली उम्र-कैद ने दुष्कर्म को इतनी राष्ट्रीय चिंता का विषय बना दिया है कि सरकार को दुष्कर्म-विरोधी अध्यादेश जारी करना पड़ा। दुष्कर्मियों के साथ सरकार की भी कड़ी निंदा होने लगी। संयुक्त राष्ट्र तक भारत की शिकायत गई। न्यूयॉर्क और लंदन के अखबारों ने संपादकीय लिखकर इन दुष्कर्मों की भर्त्सना की। 2013 में हुए 'निर्भया कांड' के बाद अब दुष्कर्म पर देश का गुस्सा फिर फूटा है। यदि इन घटनाओं से नेताओं और कुख्यात 'संत' का संबंध नहीं

होता तो ये भी दरी के नीचे सरक जातीं। 2016 में बच्चियों के साथ हुए दुष्कर्मों की संख्या 64,138 थी। ये वे हैं, जिनकी रिपोर्ट लिखवाई गई है। डर और बदनामी के मारे हजारों दुष्कर्मों को छिपा लिया जाता है। दुष्कर्म के मुकदमों में मुश्किल से 3-4 प्रतिशत को सजा मिलती है। बच्चियों से दुष्कर्म करने वालों में 98 प्रतिशत लोग उनके रिश्तेदार होते हैं या परिचित! 'निर्भया कांड' के बाद बने सख्त कानून के बावजूद 2015-16 में बाल-दुष्कर्म में 82 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

दुष्कर्म रोकने के लिए सरकार ने अब कानून को पहले से भी ज्यादा सख्त बना दिया है। यह स्वागत योग्य है लेकिन, क्या सिर्फ कानून को सख्त बना देना काफी है? पहले इस कानून पर ही विचार करें। यह प्रावधान तो सराहनीय है कि दुष्कर्म के लिए न्यूनतम सजा 7 वर्ष की बजाय 10 वर्ष कर दी गई है और मृत्युदंड को अधिकतम सजा कर दिया गया है। लेकिन, अलग-अलग उम्र की लड़कियों से दुष्कर्म करने पर अलग-अलग सजा का प्रावधान क्यों? 12 वर्ष से कम की लड़की से दुष्कर्म पर मृत्युदंड, 16 वर्ष से कम हो तो उम्र-कैद! यदि वह महिला 70 वर्ष की हो तो दुष्कर्मी की सजा क्या बहुत कम हो जाएगी? उम्र से दुष्कर्म का क्या लेना-देना? हर दुष्कर्मी को कठोरतम सजा मिलनी चाहिए। यह प्रावधान बहुत अच्छा है कि दुष्कर्मी को अग्रिम जमानत नहीं दी जाएगी लेकिन, यह देखना होगा कि इसकी आड़ में निर्दोष लोगों का फंसाया न जाए। यह भी प्रावधान है कि दो माह में उनकी जांच होगी और दो माह में मुकदमे का फैसला आ जाएगा। अपील भी छह माह से ज्यादा नहीं खिंचेगी। ये प्रावधान देखने में अच्छे लगते हैं लेकिन, इन्हें सरकार लागू कैसे करेगी? हर जिले में विशेष अदालत कैसे बनाएगी? इतने जज व कारकून कहां से लाएगी? दुष्कर्म के मौजूदा मुकदमे निपटाने में ही कम से कम 20 साल लगेंगे। देश की अदालतों में लगभग तीन करोड़ मुकदमे अधर में लटके हुए हैं।

यूं भी दुष्कर्मियों को सजा देना आसान नहीं है। दुष्कर्म कौन करता है? बलवान करता है। प्रायः मालदार, नेता, अधिकारी, रसूखदार, प्रभावशाली, बलशाली लोग ही ज्यादातर ऐसे कर्म करते हैं। वे अपने बचाव के लिए साम, दाम, दंड, भेद का प्रयोग करते हैं। आसाराम के मामले को ही लगभग पांच साल लग गए। सजा से बचने के लिए क्या-क्या गोटियां नहीं खेली गईं? तीन गवाहों की हत्या कर दी गई। शेष की जान खतरे में डाल दी गई। उन्हें करोड़ों रुपए की रिश्वत देने की कोशिश की गई। जमानत के लिए सर्वोच्च न्यायालय पर डोरे डाले गए। खराब स्वास्थ्य के फर्जी प्रमाण-पत्र पेश किए गए। सरकार और अदालतों पर दबाव डालने के लिए प्रदर्शन करवाए गए। जब इन हथकंडों से भी बात नहीं बनी तो कुछ नेताओं से कहकर सारे मामले को साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश की गई किसी हिंदू संत को ही क्यों फंसाया जा रहा है। यदि कोई दुष्कर्मी सचमुच का संत हो और उससे एेसा अपराधा हो गया हो तो वह खुद प्रायश्चित करेगा, अपने लिए सजा-ए-मौत मांगेगा और सजा के पहले ही वह आत्महत्या कर लेगा।

मैं तो शाहजहांपुर की उस बहादुर बेटी, उसके माता-पिता और उन सब गवाहों की हिम्मत की दाद देता हूं, जिन्होंने जान की परवाह किए बिना यह मुकदमा लड़ा। लेकिन, मैं पूछता हूं कि देश में ऐसे बहादुर लोग कितने हैं? कानून तो आपने कठोर बना दिया लेकिन, लोग तो नरम हैं। दुष्कर्मी रिश्तेदार को सजा-ए-मौत होगी, यह सुनकर ही लोग अपनी बच्ची के मुंह पर क्या पट्टी नहीं बांध देंगे? यदि मुकदमा लड़ने का इरादा बना भी लिया तो वे पैसा कहां से लाएंगे? जिन लड़कियों और महिलाओं के साथ दुष्कर्म होता है, उनमें से ज्यादातर गरीब, ग्रामीण, अशिक्षित, पिछड़ी और अनुसूचित जाति की होती हैं। उनकी रक्षा भारत की यह खर्चीली न्याय-प्रणाली कैसे कर सकती है? यह न्याय-प्रणाली खर्चीली ही नहीं है बल्कि जादू-टोने की तरह है। यह ऊपर से नीचे तक अंग्रेजी के कीचड़ में सनी हुई है। वकील क्या बहस कर रहा है और जज क्या फैसला कर रहा है, यह मुवक्किल को पता ही नहीं चलता यदि देश में दुष्कर्म-जैसे अपराध घटाने हैं तो सबसे पहले न्याय-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करने होंगे। इसके साथ-साथ दुष्कर्म की सजा ऐसी भयंकर बनानी होगी कि किसी भी भावी दुष्कर्मी की हड्डियों में कंपकंपी दौड़ने लगे। दुष्कर्म पर किसी को उम्र-कैद या फांसी की सजा दी जाए

और उसे जेल में ही चुपचाप भुगता दिया जाए तो उसका असर क्या होगा? उसका समाज में गहरा और व्यापक असर हो, इसके लिए जरूरी है कि यह सजा दिल्ली के लाल किले या विजय चौक पर दी जाए। जो लोग मृत्युदंड का विरोध इसलिए करते हैं कि उसका कोई स्पष्ट असर समाज पर दिखाई नहीं पड़ता, वे ठीक कहते हैं। समाज पर असर का रास्ता मैंने सुझाया है।

इसके बावजूद दुष्कर्मों पर नियंत्रण सिर्फ कानून से नहीं हो सकता। क्या हमने कभी सोचा कि इन बढ़ते हुए दुष्कर्मों के लिए इंटरनेट, अर्धनग्न विज्ञापनों, अश्लील फिल्मों, साहित्य और दृश्यावलियों तथा संस्काररहित शिक्षा की जिम्मेदारी कितनी है? सबसे ज्यादा है। इन पर कठोर प्रतिबंध की जरूरत है। अफ्रीका के कुछ देशों में व्याप्त दुष्कर्म को रोकने के लिए पाठशालाओं में लड़कियों को मुठभेड़ करने का प्रशिक्षण दिया जाता है और लड़कों से उनकी रक्षा का व्रत लिवाया जाता है। उसके चमत्कारी परिणाम सामने आए हैं। भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्व था लेकिन, अब तो उसका नाम लेने में भी हमारे नेताओं को संकोच होता है। उस शिक्षा-प्रणाली में बच्चों को सिखाया जाता है कि 'मातृवत परदारेषु' यानी पराई स्त्री को माता के समान समझो। जब तक हमारी न्याय व्यवस्था और शिक्षा-व्यवस्था में बुनियादी सुधार नहीं होंगे, दुष्कर्म पर नियंत्रण कर पाना लगभग असंभव ही होगा।

---

दैनिक जागरण

*Date: 28-04-18*

# खामियों भरा शिक्षा अधिकार कानून

**कोई भी सेक्युलर देश संप्रदाय के आधार पर भेदभाव करने वाले नियम नहीं बनाता, लेकिन आरटीई यही करता है।**

**संक्रान्त सानू , (माइक्रोसॉफ्ट में काम कर चुके लेखक आइआइटी स्नातक हैं)**

संप्रग सरकार ने 2009 में शिक्षा का अधिकार (आरटीई) अधिनियम पारित किया। तब अन्य विपक्षी दलों के साथ भाजपा ने भी इसका साथ दिया। भला नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा का विरोध कौन कर सकता था, पर क्या आप जानते हैं कि शिक्षा अधिकार के नाम पर बने इस अधिनियम से देश भर में हजारों स्कूल बंद हो गए हैं? ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि आरटीई निजी विद्यालयों की स्वतंत्रता पर आघात करता है। इस अधिनियम के जरिये एक शहरी सोच सब स्कूलों पर लागू की गई। स्कूल में इतने कमरे होने चाहिए, इस प्रकार का प्लेग्राउंड होना चाहिए और उसमें चारों ओर बाड़ इत्यादि होनी चाहिए। शायद यह भूल जाया गया कि हमारे गुरुकुल पेड़ के नीचे भी शिक्षा दे देते थे। उक्त अधिनियम के तहत स्कूल होने के लिए दो शिक्षकों की आवश्यकता तय की गई। यह कोई मुश्किल नियम नहीं लगता, पर यह भी तो हो सकता है कि किसी दूरस्थ इलाके में कोई एक शिक्षक एकल विद्यालय

चलाए। आखिर इसमें रोक क्यों? स्कूल के लिए केवल दो आवश्यकताएं हैं-एक शिक्षक और एक शिक्षार्थी। 1931 में गांधी जी ने अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए कहा था, भारत आज पचास साल पहले से कहीं अधिक अनपढ़ हैं।

दरअसल जब अंग्रेज शासक भारत आए तो वे यहां की पूरी व्यवस्था बदलने लगे। गांव के स्कूलों में भी उन्होंने अपने नियम जड़ दिए। एक तो अंग्रेजी सोच वाले स्कूल गांवों में नहीं थे और जो थे उन्हें अमान्य कर दिया गया। जो स्कूल यूरोपीय सोच पर आधारित थे वे आम लोगों के लिए बहुत महंगे थे। आरटीई को उपनिवेशवाद का दूसरा चरण कहना अनुचित न होगा। पहले तो यह अधिनियम सब स्कूलों को एक ही माप से तौलता है और दूसरे इसका शिक्षा से लेना-देना नहीं नजर आता। आठवीं के बच्चे को आठ साल की शिक्षा के बाद क्या सीखना चाहिए, यह इस अधिनियम में कहीं नहीं है। इसमें कुछ न सीखने पर जोर है।

आरटीई के अनुसार कुछ न सीखने पर भी बच्चे को कक्षा में रोका नहीं जा सकता और उसे निकाला भी नहीं जा सकता। न कुछ सीखने की चाह रखने में भी उसे कक्षा में रखना अनिवार्य है। आरटीई अधिनियम की सोच में स्कूल एक चिड़ियाघर समान है, जिसमें बच्चों को बाड़ और दीवारों में बंद रखकर आठ साल बाद जंगल में छोड़ दिया जाए, चाहे वह कुछ सीखे या नहीं। कहने को आरटीई शिक्षा का अधिकार है, लेकिन आखिर यह कौन सा अधिकार है जो जबरन लागू किया जा रहा है और जिसमें अभिभावकों के पास कोई विकल्प नहीं? पश्चिमी देशों में जहां शिक्षा की अनिवार्यता है वहां होम-स्कूलिंग यानी घर पर शिक्षण-प्रशिक्षण का विकल्प भी है। आरटीई यह अधिकार भी अभिभावकों से छीन लेता है। आज की शिक्षा का हाल यह है कि बच्चा 12 साल पढ़ाई करने के बाद प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी में लग जाता है। 12 साल की शिक्षा के बाद भी वह किसी काम का नहीं होता। अभिभावक बहुत आशा से पैसा खर्च कर उसे कॉलेज भेज देते हैं, लेकिन वहां पढ़ने के बाद भी उसे नौकरी मिलना दुर्लभ होता है। एक तरह से 15-16 साल की शिक्षा व्यर्थ जाती है और छात्र कुछ सीख नहीं पाता।

मुझे एक ऐसी युवती मिली जो पीजी करके भी किसी के घर में खाना बनाने की नौकरी कर रही है। जो उसने अपनी मां से घर में सीखा वह उसकी सारी औपचारिक शिक्षा से कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ। ऐसा नहीं है कि शिक्षा व्यर्थ है, पर उसकी अनिवार्यता लादना अधिकार नहीं, अधिकारों का हरण है। अभिभावकों और विद्यार्थियों के पास यह विकल्प होना चाहिए कि वे किस प्रकार की शिक्षा का चयन करें। हर छात्र के लिए एक ही ढर्रे की स्कूली शिक्षा उपयुक्त नहीं। बच्चे घर पर भी अपनी पसंद के व्यवसाय के अच्छे हुनर सीख सकते हैं।

पुरातन काल में ऐसा ही होता था। मैं एक ऐसी मां को जानता हूं जो अमेरिका से लौटी और उसने अपने बच्चों को कई साल घर पर ही पढ़ाया। इस दौरान उसने अपनी बच्चों को संस्कृत आधारित शिक्षा दी। इसकेआधार पर उन बच्चों को अमेरिका के स्टैनफोर्ड जैसे सर्वोच्च विश्वविद्यालय में दाखिला मिल गया। कहने का मतलब है कि सबको एक प्रकार की शिक्षा में, एक प्रकार के नियमित विद्यालय में शिक्षा अधिकार के नाम पर जबरन डालना उपयुक्त नहीं। आरटीई का यह पहलू लाभदायक हो सकता है कि निजी स्कूल कुछ प्रतिशत बच्चे गरीब वर्ग से अवश्य लें और उन्हें नि:शुल्क शिक्षा दें, लेकिन इसमें दो समस्याएं हैं। पहला तो सरकार ने मान लिया है कि उसके चलाए विद्यालय शिक्षा देने में असमर्थ हैं। हर उन्नत देश में सरकारी स्कूल अच्छे से चल रहे हैं। यहां तक कि अमेरिका जैसे पूंजीवादी देश में भी 95 फीसद बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। वहां सबसे अच्छे स्कूलसरकारी हैं और एक क्षेत्र के सभी बच्चे इन्हीं स्कूलों में जाते हैं। चीन में भी करीब सब बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं और अपनी ही भाषा में सभी विषय पढ़ते हैं। आखिर भारत में ही क्यों

निजी स्कूलों का चलन है और क्यों अभिभावक ऐसे स्कूलों में बच्चों को पढ़ाना पसंद करते हैं? सरकार अच्छे स्कूल चला पाने की विफलता निजी स्कूलों पर क्यों लाद रही है?

आरटीई में एक सांप्रदायिक समस्या भी है। आरटीई निजी स्कूलों पर बोझ डालता है और जो उसके मानदंड पूरे नहीं करते उन्हें बंद करने का अधिकार सरकार को देता है। शिक्षा अधिकार अधिनियम के दायरे में वे ही स्कूल हैं जिन्हें बहुसंख्यक यानी हिंदू चलाते हैं। अल्पसंख्यक स्कूलों पर शिक्षा अधिकार अधिनियम लागू नहींहोता। आखिर अल्पसंख्यकों के स्कूल बच्चों के भविष्य निर्माण में हाथ क्यों नहीं बंटा सकते? ऐसे नियमों से सांप्रदायिक भेद पनपता है। दरअसल आरटीई भी एक कारण है जिसके चलते कर्नाटक का लिंगायत समाज खुद को हिंदू समाज से इतर अल्पसंख्यक समाज का दर्जा पाना चाहता है। माना जाता है कि जैन समाज ने भी इसी कारण खुद को अल्पसंख्यक घोषित कराना उचित समझा ताकि उसके स्कूल सरकारी दखल से मुक्त हो जाएं।

विश्व का कोई भी सेक्यु लर देश संप्रदाय के आधार पर भेदभाव करने वाले नियम नहीं बनाता, लेकिन आरटीई भेदभाव को ही बयान करता है। इसका हल क्या है? पहले तो सरकार को स्कूलों को अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक की नजर से देखना बंद करना चाहिए। दूसरे, यदि सरकार स्कूली शिक्षा प्रदान करने में अपने को असफल मानती है तो फिर वह हर अभिभावक को एक निश्चित रकम के वाउचर दे सकती है जिसका इस्तेमाल वे किसी भी निजी स्कूल में कर सकते हैं।सरकार को चाहिए कि वह निजी स्कूलों को और अधिक स्वतंत्रता दे और उनका मूल्यांकन दीवारों एवं खेल के मैदान आदि से नहीं, बल्कि उनमें पढ़ रहे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा से करे। मातृभाषा माध्यम के स्कूलों को अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए, क्योंकि इससे बच्चे के विकास में सहूलियत मिलती है। आरटीई को बच्चों पर शिक्षा थोपने की जगह, उनके प्रतिभा के विकास के लिए अलग- अलग प्रयोग करने चाहिए। सरकार का काम निजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने और शिक्षा का स्तर बढ़ाने का होना चाहिए। शिक्षा के नाम पर चलाया जा रहा शिक्षा अधिकार अधिनियम इसके विपरीत है।

---

Live हिन्दुस्तान .com

***Date: 27-04-18***

# स्याह फैसले का सफेद पहलू

**शशांक, पूर्व विदेश सचिव**

अमेरिका में एच-4 वीजाधारकों को काम करने की अनुमति देने वाला प्रावधान अब खत्म किया जा रहा है। यह वीजा एच-1बी वीजाधारक के जीवनसाथी को दिया जाता है। यदि यह प्रस्ताव कांग्रेस (अमेरिकी संसद) में मंजूर हो जाता है, तो एच-1बी वीजाधारक की पत्नी या पति अमेरिका में काम नहीं कर सकेंगे। साफ है, यह फैसला भविष्य में अमेरिका जाने या अमेरिकी कंपनियों में काम करने का सपना पालने वाले भारतीयों को हतोत्साहित करने वाला है, जबकि एच-1बी वीजा के कोटे में पहले ही कटौती हो चुकी है। हालांकि अमेरिकी कंपनियां भी इसके असर से अछूती नहीं रहेंगी। फैसले से उन्हें भी अंतरराष्ट्रीय बाजार में खासा धक्का लगने वाला है, इसीलिए वे भी इसका मुखर विरोध कर रही हैं। मगर उन्हें सफलता तभी मिलेगी, जब कांग्रेस में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट सांसद यह समझेंगे कि पुराने अधिनियम को खत्म करना अमेरिका की आर्थिक सेहत के लिए ठीक नहीं। इतना ही नहीं, अमेरिकी कंपनियों को अब एच-4 वीजाधारकों की जगह न

सिर्फ नई नियुक्ति करनी होगी, बल्कि उन्हें उचित प्रशिक्षण भी देना पड़ेगा। जाहिर तौर पर इस काम में काफी समय लगेगा।

इस फैसले से एक और संदेश निकल रहा है। यह बताता है कि राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप काफी जल्दी में हैं, इसलिए ताबड़तोड़ फैसले कर रहे हैं। साल 2020 में वहां राष्ट्रपति चुनाव होना तय है। ट्रंप संभवत: ऐसे फैसलों से चुनाव में सियासी फायदा उठाने की सोच रहे होंगे। 2016 के राष्ट्रपति चुनाव में भी उन्होंने 'अमेरिका को फिर से महान बनाने' का भरोसा दिलाते हुए तमाम तरह के वायदे किए थे। यह अलग बात है कि उनमें से कई अब तक अधूरे हैं, और वह शायद उन्हें ही पूरा करने की जल्दबाजी में हैं। अमेरिका को ऐसे फैसले इसलिए भी लेने पड़ रहे हैं, क्योंकि वहां का पारंपरिक उद्योग खत्म होता जा रहा है। 'रस्ट बेल्ट' यानी उन इलाकों का दायरा लगातार बढ़ रहा है, जहां उद्योग सिमट रहे हैं। रोजगार भी अब ज्यादातर पूर्वी व पश्चिम तटीय इलाकों में सीमित होते जा रहे हैं। संभवत: इसीलिए अमेरिकी मुखिया विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) की खुली अर्थव्यवस्था वाली नीति से हटने की वकालत भी करते हैं। हालांकि संरक्षणवाद की ओर उनका इस कदर तेज कदम बढ़ाना दुनिया में 'ट्रेड वार' की शुरुआत भी करा सकता है।

ऊपरी तौर पर यह फैसला भले ही भारतीयों के खिलाफ दिखे, मगर मैं इसमें एक उम्मीद भी देख रहा हूं। मेरी नजर में भारतीय व अमेरिकी कंपनियां भारत के अंदर या उन देशों में, जहां ऐसा कोई प्रावधान न हो, मिलकर काम करें, तो दोनों को काफी फायदा हो सकता है। भारत में 'मेक इन इंडिया' या 'स्किल डेवलपमेंट' जैसे अभियान गति पकड़ सकते हैं। वहीं, दूसरे देशों में भी ऐसा कोई सिस्टम तैयार किया जा सकता है, जहां से अमेरिकी कंपनियों को कुशल हाथ मिल सकें और हमें रोजगार। 'इंडो पैसिफिक रीजन' (हिंद और प्रशांत महासागर का हिस्सा) या एशिया-अफ्रीका विकास गलियारा ऐसे ही क्षेत्र हैं। वैसे भी, चीन जिस तेजी से अपनी आर्थिक और सामरिक गतिविधियां आगे बढ़ा रहा है, उसके मद्देनजर भारत के लिए जरूरी है कि मित्र देशों के साथ मिलकर क्षेत्रीय संतुलन बनाए।

अच्छी बात यह है कि हमारी सरकार ने इस दिशा में संस्थागत फ्रेमवर्क बना लिया है और राजनीतिक घोषणाएं भी कर रही है, लेकिन जमीन पर उतनी तेजी से काम होता नहीं दिख रहा। हालांकि हमारे पक्ष में एक बात यह भी है कि चीन अन्य देशों में जमीन आदि लीज पर लेकर काम करता है, लेकिन हम ऐसी नीतियों का पोषण नहीं करते। ऐसे में, हम एक ऐसा वैकल्पिक रास्ता तलाश सकते हैं, जिसमें मेजबान देशों के हितपोषण के साथ ही तकनीकी दक्ष हमारे नौजवानों को रोजगार भी मिलता रहे और यह संदेश भी जाए कि हम लोकतांत्रिक तरीके से एक पारदर्शी व्यवस्था के पैरोकार हैं।

अमेरिकी प्रशासन के इस फैसले का असर भारत के साथ द्विपक्षीय रिश्तों पर भी पड़ सकता है। स्वाभाविक रूप से भारत सरकार पर जनता के इस सवाल का जवाब देने का दबाव बढ़ेगा कि अमेरिका के साथ 'कूटनीतिक साझेदारी' करने के बाद भी आखिर भारतीयों के साथ ऐसा क्यों हो रहा है? क्यों उनकी नौकरियां छीनी जा रही हैं? अपने देश में हर वर्ष दो करोड़ आबादी देश की जनगणना का हिस्सा बनती है, पर दुर्भाग्य से रोजगार के आंकड़े आज भी सुखद नहीं हैं। इन दिनों यह मसला कुछ ज्यादा ही गरम है। अगले साल यहां भी आम चुनाव होने वाले हैं और विपक्ष बेरोजगारी के मुद्दे पर सरकार को घेरने का कोई अवसर नहीं छोड़ेगा। स्थानीय स्तर के साथ-साथ जब भारतीयों को विदेशों में भी काम नहीं मिलेगा, तो उनमें स्वाभाविक तौर पर गुस्सा पनपेगा। मौजूदा सरकार के लिए यह परेशानी का सबब बन सकता है। इसलिए हमारे हुक्मरानों को जल्द ही इस स्थिति से मुक्ति पाना होगा। वे चाहें, तो इन्फ्रास्ट्रक्चर क्षेत्रों में नौजवानों को काम देकर उन्हें संतुष्ट कर सकते हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद अमेरिका ने यही नीति अपनाई थी। इस दिशा में तेजी से

काम किए जाने की जरूरत है। इसके अलावा, अफगानिस्तान, म्यांमार, दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य पड़ोसी देश, ईरान आदि के साथ भी हमें अपने रिश्ते और मजबूत करने होंगे। तभी हम चीन से मिल रही चुनौतियों का सामना कर सकेंगे।

क्षेत्रीय व्यापक आर्थिक भागीदारी (आरसीईपी) भी इस राह में हमारी मदद कर सकती है। आरसीईपी असल में आसियान के सभी 10 देशों और ऑस्ट्रेलिया, चीन, भारत, जापान, दक्षिण कोरिया व न्यूजीलैंड जैसे छह देशों के साथ होने वाला एक प्रस्तावित मुक्त व्यापार समझौता है। अगर यह साकार हो जाता है, तो हम अमेरिका को भी मुक्त अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ाने और संरक्षणवाद को हतोत्साहित करने के लिए प्रोत्साहित कर सकते हैं। कुल मिलाकर, राष्ट्रपति ट्रंप का ताजा फैसला अभी परेशान जरूर कर रहा है, पर यदि हम घर के भीतर और बाहर (पड़ोस में), दोनों जगह कुशल रणनीति बनाकर संजीदगी से काम करें, तो इसका लाभ भी उठा सकते हैं।